

उपसंहार
=====

कवि स्वनिरपेक्ष भाव से जब तक संसार का दर्शन नहीं करता, तब तक वास्तविक कवि-कर्म से वह दूर ही रहता है। संसार के महाकवियों में प्रारम्भ में भले ही आत्म-मोह की झाँकी दिखाई पड़े। परन्तु विकासावस्था में उसमें शिथिलता आ जाती है। वह निज से हटकर विश्व की ओर बढ़ने लगता है। यहीं उसमें अनासक्ति का उदय होने लगता है और उत्तरोत्तर उसमें विकास होता चला जाता है। वैयक्तिक जीवन में कोई मनुष्य कवि होते हुए भी, आसक्ति का मारा अतएव हारा हो सकता है; परन्तु कवि रूप में वह आसक्ति-हीन बन जाता है। कुछ अपवाद दिखाई दे सकते हैं अथवा उनकी कृतियों के मूल्याङ्कन में त्रुटि भी हो सकती है।

दिनकर प्रेम-सौन्दर्य तथा शौर्य के चितेरे रहे परन्तु आदि से लेकर अन्त तक उनके काव्य का प्रेरक दर्शन रहा कर्मयोग या अनासक्ति योग। काव्य का विषय कोई भी क्यों न रहा, परन्तु सर्वत्र बीजरूप में वही बोया जाता रहा। प्रणभंग से "हारे को हरिनाम" तक सर्वत्र दिनकर-काव्य में एक निःसङ्ग पुरश्चार्थ की महत्ता विद्यमान है और कुरुक्षेत्र, रश्मिरेथी तथा "उर्वशी" में तो दिनकर जैसे खुल कर कर्मयोग या अनासक्ति योग की व्याख्या करने लगे।

जिस स्थिति में श्रीकृष्ण अर्जुन को गीता सुनाते हैं, उस जैसी ही स्थिति में युधिष्ठिर को भीष्म कर्मयोग का उपदेश देते हैं। युधिष्ठिर और अर्जुन भिन्न भिन्न काल में विषाद-ग्रस्त होकर अकर्मण्य बनना चाहते हैं। एक के मन में मारकाट किए जाने पर चिन्ता उदित हुई है दूसरे के मन में मारकाट से पूर्व चिन्ता का उदय हुआ है। दोनों विषाद-ग्रस्त हैं। दोनों स्थानों पर अन्याय का मुकाबला न कर शान्ति-धारण को नपुंसक-कर्म कहा गया है। कुरुक्षेत्र में उसी तरह विरक्ति को पलायन से भिन्न माना है जिस तरह गीता में। सच्ची विरक्ति में प्रकृति स्वनिरपेक्ष भाव से रहती है अतः "योगः कर्मसु कौशलम्" गीता के इस सिद्धान्त को कुरुक्षेत्र में भी अक्षरशः सही सिद्ध किया गया है।

कर्मयोग किंवा अनासक्ति योग में संन्यास और कर्म का समन्वय पाया जाता है। संन्यासी को कहा गया कि कर्मों के स्वरूपतः त्याग से सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती, अतः वह कर्म करे, केवल बुरे काम न करे। कर्म करने वालों को कहा गया कि अनासक्तिपूर्वक कर्तव्य कर्म करें, इस तरह कर्मयोग संन्यास बन जायेगा -

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव । -गीता

कुरुक्षेत्र में नैष्कर्म्य की स्थिति पर जाने के लिए कर्तव्य कर्म को करने की प्रेरणा दी गई है। तदर्थ संन्यास लेने को "मन की कायरता" कहा गया है। सच तो यह है कि मनुष्य बिना कर्म किए रह ही नहीं सकता।

पाप पुण्य की परिभाषा के विषय में भी अनासक्ति योग तथा कुरुक्षेत्र के कर्मयोग में बड़ा साम्य है। कोई कर्म अपने आप में पाप या पुण्य नहीं है। "कर्ता हृदय की भावना" ही उसे पाप या पुण्य बनाती है। इस तरह कुरुक्षेत्र में गीतोक्त कर्मयोग पुनरावृत्त हुआ है।

रश्मिधरी का नायक कर्ण है। क्षत्रिय होते हुए भी क्षत्रिय विरोधी गुरु से शिक्षा प्राप्त करता और वह अपनी उत्कट गुरु भक्ति के बदले शाप-ग्रस्त होने पर भी खिन्न नहीं होता। जन्मजात क्वच-कुण्डल को दान देने पर भी हतोत्साह नहीं होता, अपितु युद्ध में विजय-फल की निश्चयात्मक स्थिति से छुटकारा पा कर अधिक सतर्कता के साथ युद्ध करने के अवसर को प्राप्त कर लेने की कल्पना से अधिक खुश हो जाता है।

मोह, जो मनुष्य को योगी नहीं बनने देता, कर्ण से कोसों दूर है। और तो और वह माँ के मोह से भी कर्तव्य-च्युत नहीं हो पाता है। कृतज्ञता उसमें कूट कूट करभरी पड़ी है। वह क्षात्र धर्म को निभाता है और त्याग तपस्या तथा मित्रहितादिगुण आदि गुण उसे अनासक्त शीलवान् सिद्ध करते हैं। अपने सद्गुणों के बदले वह स्वार्थ-सिद्धि नहीं चाहता है। उसका धन शौर्य है; किन्तु उसमें पागलपन नहीं, अपितु उसका आधार कर्तव्यपरायणता है। दिनकर ने कर्ण को निरन्तर युद्धोत्साह दिया, किन्तु

उसे जय-जय फल का भागी नहीं बनाया और उसके मन में उसकी लाक्षा भी कभी नहीं रही । कर्ण के मुँह से "रश्मि-रथी" में यत्र-तत्र जो कहलाया गया है, उसमें दिनकर की अनासीक्त-पृष्ठपोषकता स्पष्ट दिखाई पड़ती है ।

चतुर्वर्ग में "काम" सर्वाधिक आलोच्य रहा है । कुछ लोगों का विश्वास है कि काम और ईश्वराराधन में बड़ा विरोध है अतः साधक को काम से सर्वथा पृथक् रहना चाहिए; किन्तु ऐसे भी विचारक तथा साधक हुए कि जिन्होंने काम को स्वस्थ जीवन जीने के लिए आवश्यक माना । वे उसे भूख-प्यास की तरह एक जीवन-विधायक कृत्य मानते हैं । कई साधकों और दार्शनिकों में तो साधनाक्षेत्र में काम को अपरिहार्य साधन माना । भारत की धर्म-साधना के इतिहास में मध्यकाल में कामोपभोग को बड़ा महत्त्व मिला । बौद्ध ब्रह्मचर्या और सहज्यानी के रूप में मुद्रिता योषित् को महत्त्व देने लगे । कहा जाता है कि ब्रह्मोली और सहजोली मुद्राएँ, जो हठयोग की चरम साधनाएँ मानी जाती हैं, विना नारी के सम्पर्क के सिद्ध नहीं होती हैं । सहज साधना में और तो और वैष्णव भी फैसने लगे । शैव कापालिक बनकर योगिनीसिद्धि करने लगे तो शाक्त वाममार्गी बनकर पंचमकारस्थ कामप्रोपासना में लीन हुए । माधुर्यपूर्ण या मधुरा भक्ति के नाम पर कामचर्या होने लगी । वर्तमान समय में भी अनेक ऐसे धर्मसंगठनों की कमी नहीं, जो कामोपभोग को अपना धर्म-साधना का एक अङ्ग मानते हैं ।

मनोविज्ञानवेत्ताओं ने इन्द्रिय-दमन को विस्फोटक सिद्ध कर यौन सम्पर्कों के औचित्य को सिद्ध किया । ऐसी स्थिति में कवि को काम के नैतिक महत्त्व की स्थापना करनी पड़ी और उसको अतिचार किंवा व्यभिचार से मुक्त करने का प्रयास किया । जैविक धरातल में उसे ज़रा सँवार कर उपस्थित किया गया । दिनकर ने उर्वशी में ऐसा ही प्रयत्न किया है । धर्म के "अविरुद्ध" काम को अपना रूप बताने वाले श्रीकृष्ण के मन्तव्य को समझ कर उसने ईश्वर और काम में पुराणपन्थियों द्वारा पैदा किए गए विरोध का शमन किया निष्काम काम को उपस्थित कर ।

पूर्वपक्ष के रूप में दिनकर ने उर्वशी में काम के आसीक्तमय रूपों

के तीनों भेदों को दिखाया । शुभ आसक्तिमय काम में पुत्रैषणा विद्यमान रहती रही । अशुभ आसक्तिमय काम में बलात्कार की स्थिति दिखाई है और तीसरा रूप है पलायन का, जिसमें साधना में विघ्नभय आदि आशङ्काओं के कारण मनसा आसक्त स्त्री-पुरुष काम-कृत्यों से दूर रहे । अन्ततः इन तीनों का उर्वशी में विरोध किया गया है और अनासक्तिपूर्ण तीन रूपों को लाकर खड़ा किया । प्रथम जैविक धरातलीय काम जिसे जीवन में भूखप्यास की तरह अपनाता पड़ता है प्राणियुगल प्रकृत्या नदी में बहते दो तिनकों की तरह अनायास मिल आते हैं । उर्वशी इसी काम को "निरद्देश्य" काम किंवा निष्कामकाम की संज्ञा देती है । दूसरी तरह का अनासक्तिमय काम है अध्यात्मपरक काम, जिसका आख्याता है पुरुरवा । जैसे कर्मयोग में अपने कर्म से ही ईश्वर की अर्चना करने का सिद्धान्त रखा गया है वैसे ही दिनकर का पुरुरवा कामकृत्य द्वारा समाधि-सुख लूटता है । भोग में ही योग की बात करता है । गोद में उर्वशी है संसार की अनिन्द्य सुन्दरी । किन्तु उसे वह ऐसे देख रहा है जैसे वह एक प्रार्थना की पुस्तक हो । स्त्री-पुरुष के मिलन अथवा भोग के चरम क्षणों में वह जीव और ब्रह्म के मिलन की भावना से उर्ध्व से उर्ध्वतर लोक में चलता जाता है । अनासक्तिमय काम का तीसरा रूप है कर्तव्य-निष्ठा से निष्पादित काम । स्त्री-पुरुष सामाजिक परिप्रेक्ष्य में परिणाम-निरपेक्ष होकर तन की आवश्यकतानुसार वैवाहिक जीवन में काम को धर्म समझ कर जानबूझकर अपनाते हैं । सुकन्या और च्यवन के काम-सम्पर्क इसी कोटि में आयेंगे । जिन पात्रों की सृष्टि से उर्वशी में दिनकर/काम के पूर्वोत्तर पक्ष स्पष्ट हुए हैं, उनमें अपने पक्ष के लिए दुराग्रह नहीं देखा जाता अपितु चारित्रिक स्वाभाविकता विद्यमान है । यही कारण है पूर्वपक्ष की समर्थिका औशीनरी में भी कहीं कहीं उत्तर पक्षीय निष्काम कर्तव्य-निष्ठा तथा निरद्देश्य किंवा निष्काम काम की पक्षपातिनी उर्वशी में भी स्त्रियोचित कामना विद्यमान दिखाई देती है । पात्रों की द्विधा-ग्रस्तता के लिए ऐसा करना कवि को अभीष्ट रहा ।

यह ठीक है कि दिनकर-काव्य की निष्काम भावना के विषय में

यत्र तत्र कुछ विचार अन्य लेखकों ने व्यक्त किए हैं और उन्हें पढ़कर ही मुझे इस विषय में और अधिक जानने की इच्छा पैदा हुई; किन्तु वैज्ञानिक ढंग से इस विषय पर प्रकाश डालने का यह प्रथम प्रयास है और प्रथमवार ही यह निष्कर्ष निकाला गया है कि अनासक्ति की भावना दिनकर-काव्य की धुरी रही है। इस दिशा में बहुत कुछ और भी खोजा जा सकता है; किन्तु विषय-परिसीमन की दृष्टि से कुछ और लिखना समीचीन नहीं लगा और किसी दृष्टिकोण को उपस्थित करने की वैज्ञानिक विधि का आग्रह है कि बहुत कुछ लिखे जाने पर भी परवर्ती गवेषणाओं का मार्ग अवरुद्ध न हो; अतः यहीं अपनी लेखनी को विराम देती हूँ ।।

= = = = =